उत्तरा अप्रैल/जून 2003 A30 पृ 506

एक विदेशी बहू के बहाने

◆ सुनीता ठाकुर

पिछले कुछ दिनों से विदेशी बहू का मुद्दा खासी बहस का केन्द्र बना हुआ है। इस मुद्दे पर अखबारों और पत्रिकाओं में राजनैतिक और सामाजिक नजरिये के साथ क्या–क्या नहीं छपा। इंसानी हकों की बात साफ तौर पर नहीं हुई पर कहीं उसकी रंगत भी थी इन वाद–विवादों में। वैसे हमारे यहाँ (हमारे यहाँ मतलब दुनियाँ के किसी भी कोने में, जहाँ पुरुषवादी समाज है– यानी लगभग पूरी दुनियाँ में) विदेशियत का मुद्दा बहुत बेमानी है। खासतौर से औरतों के मामले में। खाने–कमाने के लिए विदेशी, परदेशी हो जाने वाले पुरुषों की अपेक्षा औरतों के लिए इस विदेशियत के एकदम उलट और खास मायने होते हैं। इतने खास कि वे इसका जिक्र आते ही अपने विदेशी हो जाने के समय और कारणों की जड़ों तक पहुँच जाना चाहती हैं। जितनी भी औरतों से जब भी इस मुद्दे पर बात की, हर बार कुछ नया निकला। उनका तो कुछ और ही कहना था–

'हम औरतें तो जनम से ही परायी हो जाती हैं। माँ की कोख से ही पराएपन के साथ पाली जाती हैं। परायी अमानत को सहेज तो रखते हैं, पर उससे मोह नहीं पालते, यही तो सिखाया गया है।'

'इतनी परायी कि माँ की गोद छूटने के बाद परायी डोली के आ धमकने का डर भीतर कहीं गहरे बैठ जाता है।'

'अपने ही माँ–बाप परायी डोली की इज्जत रखने के लिए अर्थी तक का रास्ता तय कर देते हैं।'

'पराए घर में पराएपन को अपनेपन में ढालते–ढालते उम्र बह जाती है, और हर बार किसी न किसी आवाज में पराए घर से आने का ताना मन की परतों को छीलता चला जाता है।'

लड़कियाँ और लड़कों के साथ समय–समय पर हुई जेंडर कार्यशालाओं में हम अक्सर एक सवाल उनसे पूछते हैं– 'लड़का या लड़की होने के नाते कौन–सी बात सबसे खराब लगती है?' और यकीन मानिए इस सवाल के जवाब में हर बार हमें लड़कियों की ओर से एक ही यूनिवर्सल जवाब मिलता है कि शादी, यानी माँ–बाप का घर छोड़ना–यानी विदेशी हो जाना। शादी विदेशी बना दिए जाने का एकमात्र रास्ता और सबूत कि आपका मालिकाना हक जिस जाति, बिरादरी, परिवार और पुरुष को सौंप दिये गये, वह आप पर मनमाना अधिकार जमा सकें, आपके साथ मनमाना आचरण और व्यवहार कर सकें। इस हद तक मनमाना कि नए माहौल में आप का मन तैयार हो या न हो, पर आपके तन को तैयार होने के लिए विवश किया जा सके। इस हद तक मनमाना कि आपसे आपका बरसों पुराना नाम और पहचान भी छीनी जा सके। एक विदेशी जिसे पूरी तरह अपनी जड़ों से उखाड़कर दूसरी जमीन पर बोने की कोशिश होती है। इस जमीन पर उसे दूसरों के मनमाफिक फलना–फूलना होता है– वह चाहे तो भी, न चाहे तो भी। एक ऐसी विदेशी जो लौट कर अपने देस आती है तो परायी बनकर। पराएपन और विदेशियत की यह नियति पुरुषवादी समाज व्यवस्था ने औरतों पर थोप दी है। वे चाहें या न चाहें, उन्हें इसे निभाना ही होता है। मगर गजब की ढिठाई है हम औरतों में भी। हमें जहाँ से उखाड़ा जाता है, वहीं से हम जमने की ताकत और मजबूती भी साथ ले जाती हैं। जमीन से उखड़ने और जमीन से जुड़ने की कला हम औरतें खुद–ब–खुद सीख जाती हैं।

बात चाहे सोनिया गाँधी की हो या उन्हें गलियाने वाली भारत माता ब्रांड बहन जी की। पुरुषवादी सत्ता की शिकार तो दोनों ही हैं– एक उसके चंद फायदों से बौराई है और दूसरी अपने वजूद की लड़ाई में अपने होने का अर्थ सार्थक कर रही है। पर 'विदेशियत' का दर्द तो दोनों को एक सा होगा। अपनी जमीन से बिछुड़ने और पराएपन की गलियाहट की पीड़ा दोनों के हृदय में एक–सी ही होगी। हैरानी की बात सिर्फ यह है कि खुद पूरी व्यवस्था में विदेशी होकर आप दूसरे पर कैसे उंगली उठा देते हैं।

यों कहें कि इस पुरुषवादी समाज में हर औरत विदेशी है। कोई हो चुकी है और कोई होने वाली है.... और हर देशकाल में पुरुष प्रजातियाँ भी 'विदेशियत' साथ लाती और ले

सुश्री सुनीता ठाकुर, जागोरी, बी, 114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली– 110 017।

जाती रही हैं। परिवर्तन और गति का परिणाम ही कुछ ऐसा है तो इसमें गलियाने की क्या बात है। हाँ, अगर आप इंसानियत, सदाचार और फर्ज की दुनियाँ से विदेशी हो जाते हैं तो जरूर गलियाने की बात है। गलियाना तो क्या, फिर इंसानी समाज में आपको रहने का भी क्या हक है? और इस हिसाब से तो आज के हमारे सारे बड़बोले और तटस्थ मौनद्रष्टा नेता भी 'विदेशी' ही साबित होते हैं? 'देसियत' के मामले में आज भी गाँधी जी जैसे चंद लोग ही शायद कतार में मिलेंगे। पर यह तो उसूल और ईमानदारी की बात है, उसे कौन पूछता है।

हम तो विदेशी बहू की बहसों में कान गर्म करेंगे। यों भी बहुएँ ही हमारे यहाँ कान गर्म करने का सबसे प्रिय आधार रही हैं। परिवारों में लड़की पैदा हुई नहीं कि उसे एक अच्छी और काबिल बहू बनाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद सहित तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। कुछ तो बेचारी हालात समझकर चुपचाप तैयार हो जाती हैं– जो नहीं होतीं, उन्हें मातृऋण–पितृऋण से लेकर परिवार, खानदान की इज्जत से लेकर प्राणदण्ड तक का वास्ता और भय हरा देता है। जो दुस्साहसी इससे भी बच निकले, वह या तो शहीद होकर रह जाती है या फिर बिना किसी पारिवारिक और सामाजिक सहारे के अपने वजूद की लड़ाई में अकेली रह जाती है– चौतरफा लड़ाइयों के बीच अभिमन्यु–सी जूझती। कुल मिलाकर हम जहाँ से चलती हैं, वहीं पहुँचती हैं। अच्छी बहू बनने के पालतू फायदे या फिर एकल जीवन की संघर्षमय चुनौतियाँ।

मगर फायदा क्या? अच्छी से अच्छी बहू भी ताउम्र पति और बेटों के बीच चाकरी करके भी उस सरजमीं / परिवार में देसी लाड़–प्यार और अपनापन नहीं पाती। रहेंगी तो विदेशी विदेशी ही। चाहे घर से बिछुड़ी विदेशी हो या जाति से या धर्म से या फिर मुल्क से। इसलिए तो मनुस्मृति

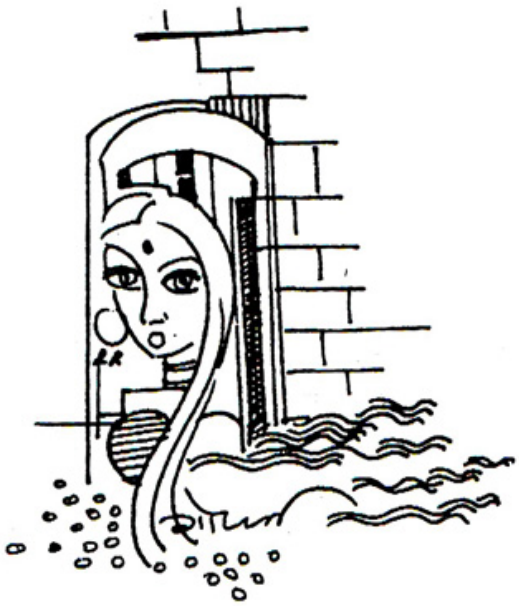

गा गई है– औरत और गाय का कोई धर्म नहीं होता, जिस खूंटे से बाँध दी जाए उसी की हो जाती है। पर हम विदेशी बहू के मामले में सब भूल जाते हैं। बहू की 'विदेशियत' से पैदा औलाद तो देसी हो सकती है, पर उसे पैदा करने वाली तो रहेगी विदेशी ही, परायी ही, बाहर वाली ही।

अपने इस विदेशीपन को ढोती, अपनी ज़मीन से उखाड़ी जाती औरतें कभी किसी मर्द से नहीं पूछतीं कि किस अधिकार से उन पर यह परायापन थोपा जाता है– उम्र के हर पड़ाव के साथ पराएपन का आकार बड़ा होता जाता है। पराए घर में अपनेपन का झांसा देकर थोपे जाते समय कहीं उसे यह अहसास नही होने दिया जाता कि यहाँ से उसके जीवन की दुधारू यात्रा शुरू होती है– अब वह न मायके की अपनी रहेगी न ससुराल में अपनाई जाएगी। उसके सामने अनजाने लोगों को खड़ा कर रिश्ते बयान कर दिए जाते हैं और उन रिश्तों से जुड़ी सेवा–सुश्रूषा में वह बिनपगार की 'बंधुआ' बन कर रह जाती है। हम कभी यह नहीं सोचते कि बहू को भी प्यार / मान / सम्मान और अपनेपन की जरूरत होती है– नतीजतन रिश्तों की कड़वाहट, घरों में टूटन और बेगानापन। सास, बहू, ननद, भाभी जैसे नाजुक रिश्तों का मखौल उड़ाते तमाम धारावाहिक, फिल्में कभी उनमें छिपी सत्ता व राजनीति को नहीं दर्शाते, पर बहू पर इतना ध्यान दिया ही क्यों जाए, वो पराए घर से जो आती है, पराए घर को अपनाना उसका शास्त्रीय धर्म है, उसका हक ही क्या होता है पराए घर में। पराए घर को तो अपनाना पड़ता है–यही तो उसका फर्ज है। ऐसे तमाम सांस्कृतिक पाठ हम बहुओं पर थोपते हैं और उम्मीद करते हैं कि सारे पराएपन और कड़वेपन के बीच रिश्तों की मजबूत बुनियाद कायम की जा सकती है। घर से राष्ट्र तक आज हर बहू की यही नियति है, यही संघर्ष है।

औरतों के इस विदेशीपन में सिर्फ परिवार ही अहम भूमिका नहीं निभाता, बल्कि धर्म और कानून भी बड़े घाघ तरीके से उसे 'औकात में रहना' सिखाते हैं। औरत हो या मर्द, दोनों की मानसिकता को पंगु बनाने का काम हमारे धार्मिक प्रपंच बखूबी निभाते

रहे हैं। आस्था के सीधे–सादे सवाल को कर्मकांडों में बाँधकर पूरा एक धर्म खड़ा कर दिया और भय बिठा दिया किसी अज्ञात परमात्मा का। परमात्मा जिसे देखा किसी ने नहीं, पर दुनियाँ भर के भगवान और धर्मप्रवर्तक, उपदेशक पुरुष हुए, उनके परमभक्त विचारक भी पुरुष ही हुए– सब के सब औरतों को पुरुष सेवा, आदर का पाठ पढ़ाते हुए, उनके लिए अपने हर सुख आराम के त्याग का उपदेश देते हुए– है न हैरानी की बात! जो इन सब को न माने वह औरत भला अच्छी कैसे कहलाए, जो अच्छी बहन, बेटी नहीं बन पाई वह अच्छी बहू कैसे साबित होगी? इसलिए होश संभालते ही उसे यह ट्रेनिंग दी जाती है– पूरे व्यवस्थापक ढंग से– व्रत, उपवास, दान, पुण्य, माता–पिता का नियन्त्रण और जाति–बिरादरी की इज्जत– सब औरतों के माथे, उन्हें विदेश जो जाना होता है, विदेशी जमीन पर अपने मूल की महानता का झंडा जो गाड़ना होता है। अच्छी बेटी, बहन बनकर अच्छी बहू बन जाने से ही काम नहीं चलता–अच्छी बहू बनकर अच्छे खानदान की जड़ता जो साबित करनी होती है। हैरानी की बात यह है कि पुरुष कभी विदेशी नहीं होते, कम से कम उन्हें मूल–श्रेष्ठता तो साबित नहीं करनी होती।

बड़ी हैरानी होती है कि औरत का मन पढ़ने का दावा करने वाले, उनकी संवेदनाओं को साकार करने वाले बड़े से बड़े साहित्यकार भी 'बड़े घर की बेटी' के नाम पर एक अच्छी बहू के पाठ औरतों को पढ़ाते नजर आते हैं, कभी 'दोपहर के भोजन' में मिडियेटर के रूप में पिसते हुए, तो कभी खोई हुई 'पाजेब' के रूप में त्याग की मूर्ति बनने का मार्ग दिखाते हुए– पराएपन की मानसिकता तैयार करके ही तो पराया होकर जीना सिखाया जा सकता है न!

सबसे ज्यादा हैरानी होती है– मुल्क के संविधान को देखकर, जो भाषा तो न औरत की बोलता है, न मर्द की, मगर व्यवहार में आते ही वह मर्द या औरत का जामा पहन लेता है। यों तो हमारा संविधान भी विदेशियत का ही परिणाम है। संविधान की आलोचना करने वाले उसे कैंची और गोंद का कमाल कह गए हैं। फिर उसमें देसी संस्कृति और देसी समस्याओं के प्रति न्याय करने पाने की क्षमता भी कैसे हो, और हम उससे यह उम्मीद रखें भी क्यों? क्योंकि आखिर वह है तो एक औजार 'टूल' ही न! उसे इस्तेमाल करने वाले हाथ जो चाहेंगे वही तो हासिल होगा न! और ये हाथ औरतों को पराएपन/दोयम/निचले और दमित रूप में ही देखना चाहते हैं। पैदा होते ही बेटियों को अच्छी बहू बना पाने की सामाजिक, आर्थिक ताकत महसूस हुई तो ठीक, वरना उन्हें मौत के घाट उतारने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। कानून का क्या, उसे बनाने वाले भी वही पुरुष हैं जो इसे तोड़ने का रास्ता और दम–खम जानते हैं। रह गई औरतें, वे तो पहले ही पुरुषसत्ता के भय, लालच, फायदे, नुकसान से बँधी हैं, जो नहीं बँधी हैं, वे वैसे ही अपनी जंगों में उलझा दी जाती हैं। कानून के ठेकेदारों को औरतें कानून का दुरुपयोग करती नजर आती हैं। वे औरतें जिन्हें घर में जबान खोलने पर मनमानी सजा और तलाकनामे थमा दिए जाते हैं, वे औरतें जो इस मुल्क की आधी आबादी हैं, वह मुल्क जिसकी साठ प्रतिशत जनता आज भी गाँवों में है, वह मुल्क जिसकी अधिकतर जनता आज भी कम पढ़ी–लिखी या अनपढ़ है। हमारे यहाँ एक कहावत है– 'बहू ताले कूंची में हाथ न लगइयो, यों सारा घर तेरा ही है'– बहू ताले–कूंची के इस खेल में उलझी अपने हक की सीमाएँ खोजती रह जाती है। हमारे कानून का भी यही हाल है– कानून और अधिकार सिर्फ पढ़ने के लिए भले, उनके इस्तेमाल की बात... और वह भी औरतें– ये भला कैसे सहन हो इस पुरुष को लिहाजा ऐसी आवाज बुलंद करने वाली औरतें भली बेटी या बहू नहीं रहतीं, उन्हें 'जमात बाहर' कर दिया जाता है– या फिर 'लोकबाहर'।

फिर अपनी नियति से समझौता या कि उसे स्वीकार कर लेने का माद्दा रखने वाली औरतों के साथ सुरक्षा और अधिकार का अपना तंत्र और राजनीति है। वे भले ही पुरुषों की गुलामी में बूढ़ी हो जाएं मगर अधिकार के नाम पर उन्हें हमारा कानून कोई सुरक्षा नहीं देगा। सुरक्षा के नाम पर वह एक पुरुष से दूसरे पुरुष के नाम रूप परिवर्तन (बाप, पति, बेटा) के साथ परिवर्तित होती चली जाती हैं, फिर भी कोई गारंटी नहीं कि वह अपने ही पति या बेटे द्वारा बरसों से सींचे घर–परिवार से निकाल बाहर की जाएं। सम्पत्ति अधिकारों के नाम पर वह केवल पुत्र–माता होने पर अभिभावक/संरक्षक के रूप में पारिवारिक सम्पत्ति से हिस्सा प्राप्त कर सकती है। पति की अनुगामिनी होने के नाते वह भले ही किसी हद तक सामाजिक सुरक्षा अनुभव करे, किन्तु उसके न होने पर वह दूध में से मक्खी की तरह निकाल फेंकी जाती है। उसे समाज या कानून

जो भी देगा, देगा पुरुष की छत्रछाया में ही, उसका खुद में अपना वजूद नहीं माना जाता।

फिर क्या फायदा है– ऐसे रिश्तों और दायरों का जिनमें सुरक्षा, सुकून और संतोष ही न हो। जहाँ वे मात्र सेविका, प्रेमिका या दासी ही मानी जाती हैं। समाज में पुरुष की निजी सम्पत्ति की तरह औरतों की परवरिश और हिफाजत की जाती है। समाज और परिवार के दायरों के बाहर या उनकी व्यवस्था को नकारने वाली औरतों को समाज या तो वेश्या करार देता है या फिर बुरी औरत, जिससे भली और सती (कहना मानने वाली) औरतों को दूर रहने की शिक्षा–दीक्षा दी जाती है। हम कभी औरतों की नजर से उनके बारे में सोच ही नहीं पाते हैं। धर्म के आदर्शों के नाम पर औरतों को हमेशा से त्याग और सहनशीलता का पाठ पढ़ाया गया है, लेकिन घर की चहारदीवारी में वही औरतें हिंसा की शिकार होती हैं। समाज की दोहरी धार्मिक मानसिकता का भयानक रूप हम धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और दंगों में साफ देखते हैं। हजारों औरतों को बिना वजह बलात्कार और यौन हिंसा का शिकार बनाया जाता है, सिर्फ इसलिए कि वे किसी एक धर्म की जागीर हैं।

आंकड़े बताते हैं कि औरतों के साथ ज्यादातर हिंसा और अत्याचार परिवार/घर और रिश्तों के दायरों में होते हैं। इस हिंसा को बर्दाश्त करने का कारण भी शायद घर–परिवार और रिश्तों से जुड़ी भावनात्मकता में छिपा होता है। अपने पैतृक और वैवाहिक घर के बीच तालमेल, संतुलन और रिश्तों की निबाहदारी का दायित्व जैसे औरत का ही होता है। तुर्रा यह कि इसमें उन्हें किसी ओर से भावनात्मक सहयोग प्राप्त नहीं होता। औरत और हिंसा के मुद्दे पर काम करते हुए औरतों की व्यावहारिक समस्याओं पर सलाह मशविरा या काउंसलिंग के दौरान हमने पाया है कि बीस से पच्चीस सालों तक शादी के रिश्तों में रहने के बाद भी औरतें पारिवारिक हिंसा से तंग आकर घर छोड़ने को मजबूर हुई हैं। यहाँ तक कि बूढ़ी और विधवा औरतें भी जायदाद या सम्पत्ति के कारणवश हिंसा का शिकार हुई हैं।

ऐसे हालात में जब पूरी एक उम्र जी लेने के बाद भी रिश्तों की जवाबदारी औरतों के पक्ष में तय नहीं हो पाती, ऐसे हालात में जब देश की आम औरत से लेकर सर्वोच्च पद की हकदार और जनता की निर्वाचित नुमाइंदा औरत के प्रति विदेशियत का मुद्दा उछाला जाता है तो सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे और पारिवारिक नातेदारियों के प्रति, सांस्कृतिक मूल्य और आदर्शों के प्रति आस्था पर सवाल खड़े हो जाते हैं। बहू चाहे आम परिवार की हो या सर्वोच्च राजनैतिक घराने की, उसकी विदेशियत और पराएपन की विडम्बना में कोई अन्तर नहीं होता। इस तकलीफ में हर औरत एक ही लाइन पर खड़ी है। तुर्रा यह कि मूल से ब्याज प्यारा होता है। मूल भी स्वीकार, ब्याज भी स्वीकार मगर उसके बीच की उस बहू का क्या जो इन दोनों के अस्तित्व को साकार करने में अपनी पूरी उम्र और श्रम लगा देती है। क्या हमने सोचा है कि अगर समाज की आधी आबादी के प्रति हमारा यह सौतेला व्यवहार खत्म न हुआ तो इसके परिणाम स्वरूप शादी की व्यवस्था के खंडन, नकार और अनिच्छा की भयानक चुनौती हो सकती है, और हैरानी नहीं होनी चाहिए कि इस दौर की शुरूआत हो चुकी है।

आज अधिकतर लड़कियाँ शादी जैसे झंझटों में न पड़कर अपना कैरियर बनाने में ज्यादा ध्यान दे रही हैं। शादी की जगह युवा वर्ग में स्वतन्त्र रिश्तों के प्रति रुझान बढ़ता जा रहा है। नतीजन गैर शादीशुदा रिश्तों वाले परिवार जन्म ले रहे हैं, जहाँ अपेक्षाकृत सामाजिक, दैहिक और यौनिक आजादी है, खुलापन है और व्यर्थ के आदर्शवाद से परे एक व्यावहारिक सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में हमारे पास केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं– हम इन स्वच्छन्द यौनिक रिश्तों पर आधारित परिवारों को मान्यता दें या शादी के रिश्तों में व्याप्त हिंसा और अनाचार खत्म हो, आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा की गारंटी हो। सम्पत्ति कानूनों की समीक्षा की जानी चाहिए तथा औरतों को 'वैवाहिक घर' में सम्पत्ति के मालिकाना हक प्रदान किए जाने चाहिए। वारिस के नाम पर लड़के ही नहीं, लड़की को भी समान महत्व और हक हो– चाहे वह जायदाद या पुश्तैनी सम्पत्ति का मामला हो, या पारिवारिक सम्पत्ति का। कानून होते हुए भी अधूरे हैं, उन्हें वक्त और हालात के मुताबिक 'रिव्यू' तो करना ही होगा। पुरुषों को औरतों के प्रति सहयोगी आचरण अपनाने होंगे। औरतें पराई अमानत नहीं– यह समझना होगा तभी हम रिश्तों में बैठी विदेशियत और पराएपन की सोच को दूर कर पायेंगे अन्यथा अपनी ही संस्कृति और अपनी ही समाज व्यवस्था से हम दूर होते जायेंगे और आधी आबादी की यह खानाबदोशी विदेशियत पूरे समाज के लिए एक अभिशाप बन कर रह जाएगी।